

## वाङ्गमय-विवेक की भूमिका

यह आलेख डॉ० राजनारायण पाण्डेय के  
प्रकाशित शोध-ग्रन्थ 'वाङ्गमय-विवेक' के बहाने  
अपभ्रंश भाषा-साहित्य के विविध संदर्भों की गहन  
विवेचना प्रस्तुत करता है।

तब भाव था, भाषा नहीं थी, कालान्तर में संकेत-चिह्नों ने लिपि का रूप ग्रहण किया और वसुन्धरा पर एक नयी अवधारणा का सूत्रपात हुआ कि भाव का लिखा जाना सम्भव है तब भी मनुष्य की भाषा-गत असफलता आज तक बनी रही कि अन्दर जो सोचा जाता है अन्तर्लोक में भाव-सागर के जो ज्वार घटित होत हैं उन उत्थित आरोहों की अभिव्यक्ति उनके आपूर्ण स्वरूप में न तो भाषा कर पाती है और न लिपि। अपने को आज तक इस योग्य करने का साधन भाषा और लिपि के अतिरिक्त कोई तीसरा नहीं बना।

संसार में असंख्य भाषाओं और लिपियों का जन्म हुआ। जिस तरह अनन्त मृत संसारियों के होते हुए भी जीवित संसारियों की संख्या रुद्ध नहीं होती, ऐसे ही भाषाओं और लिपियों की मृत्यु उनके अस्तित्व को समाप्त नहीं करती जीव की भाँति भाषा और लिपि का जीवन भी अक्षुण्ण बना रहता है। संसार को एक राष्ट्र के रूप में ग्रहण किया जाये तब इसकी एक भाषा को संकेत-भाषा और लिपि को को संकेत-लिपि के अतिरिक्त कोई अन्य नाम नहीं दिया जा सकता। संसार को एक राष्ट्र के रूप में ग्रहण किया जाये तो आदि-सृष्टि से आज तक ब्रह्मावर्त, जम्बूद्वीप, आर्यावर्त अथवा भारत वर्ष को इसकी राजधानी कहा जा सकता है और अस्तित्व में आयी सकल भाषाओं के मध्य यहाँ की भाषा को आदिभाषा और लिपि को आदि-लिपि। आर्यों और अनार्यों में विभाजित संसार को सभ्यता-दीक्षित बनाने का कार्य यहीं के धर्म वीरों और विद्या-वीरों ने किया, जिस माध्यम से यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा निश्चय ही वह कोई एक भाषा रही होगी, वेद व्यास ने प्रथम बार वेदों का सम्पादन किया और उन्हें चार की संख्या दी, थोड़े समय तक यह संख्या तीन भी रही, मूलतः ऋग्वेद एक था और संसार के उपलब्ध साहित्य में इससे पुराना एवं महिमाशाली लोकोद्घाटक, अध्यात्म का शिखरस्पर्शी ग्रन्थ संसार में कोई दूसरा नहीं बना। वेद की भाषा एक नहीं है, इसका सुनिर्धारित कोई व्याकरण-स्वरूप भी एक नहीं है, इसका विषय भी एक नहीं है, यह किसी एक व्यक्ति या एक काल की रचना भी नहीं है इसीलिये उसकी भाषा को कोई नाम भी नहीं दिया जा सका और सुविधा के लिए ही एतत्पूर्व-वर्तिनी भाषा को हम वेद-पूर्व भाषा कह सकते हैं, यह वेद-पूर्व-भाषा जिसका किञ्चित् परिवर्तित स्वरूप वैदिक भाषा है संसार की आदि भाषा रही होगी, यही कारण है कि संसार भर की महत्वपूर्ण पुरानी भाषाएँ संस्कृत के मूल रूप से मूलतः मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं, ऐसा लगता है कि सामान्य जन तो बहुत बार, एक दूसरे से मिलते-जुलते जैसे दिखायी देते हैं, बहुत बार मरने के बाद जो नये पैदा होते हैं वे भी पूर्वजों से बहुत कुछ मिलते-जुलते दिखायी देते हैं पर जो प्रायः असाधारण विभूतियाँ जन्म लेती हैं वैसे पुनरवतार दोबारा संभव नहीं होता, सारे संसार का इतिहास खोजा जाय तो भी महात्मा वेदव्यास जैसा मानस-प्रकल्प खोज पाना सम्भव नहीं होगा, बहुत बार फिज़िक्स के आइन्स्टीन के दिमाग की बात की जाती है और सही की जाती है पर हमारे विचार से व्यास जैसा माइण्ड विश्व में अकल्पनीय है।

वेद-सम्पादक, पुराण-प्रणेता, श्रीमद्भागवत और महाभारत के कवि व्यास जी ने परोक्षतः वैदिक भाषा को एक रूपता प्रदान की, उन्होंने व्याकरण का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, शब्द-कोश-लेखन और व्याकरण-प्रवर्तन महत्वपूर्ण होते हुए भी इनके लिये जितना श्रम और योग्यता चाहिए वस्तुतः ये दोनों उतने ऊँचे काम नहीं हैं, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वैदिक साहित्य में गिने जाते हैं परन्तु इनकी भाषा वेद की भाषा जितनी दुरूह नहीं है, वैदिक भाषा को आज भी संस्कृत का साधारण विद्यार्थी सहज ही हृदयंगम नहीं कर पाता, इस कठिनायी को दूर करने के लिए भाषा-परिष्कार की आवश्यकता का अनुभव किया गया। धर्म बनता है तब धर्म-शास्त्र बनता है और समाज बनता है तब संविधान, इसी प्रकार अव्यवस्थित भाषा व्याकरण को जन्म देती है यद्यपि व्याकरण के द्वारा भाषा का सम्यक् ज्ञान कठिनायी से होता है, तो भी भाषा के व्यक्तित्व के संरक्षा-विधान के लिए व्याकरण बहुत आवश्यक है, इसका महत्व विशेष है। नयी-नयी भाषाएँ बहुत समय तक बिना किसी औपचारिक व्याकरण के ही चलती रहती हैं, पर विपुल साहित्य से सम्पन्न पुरानी भाषाओं के लिए व्याकरण अनिवार्य होता है, समय-समय पर वैदिक भाषा को व्यवस्था देने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं, पर इन प्रयत्नों का कोई पर्याप्त स्वरूप प्रमाण-मार्ग में दृष्टिगत नहीं हुआ, आपिशलि,

कात्थक्य, वाभ्रव्य, औरणनाभ, शाकटायन, और काशकृत्स्न जैसे अपने पूर्व-वर्ती महान् वैय्याकरणों का उल्लेख स्वयम् पाणिनि ने किया है, किन्तु धरा पर पाणिनि का अवतरण विश्व-वाणी-विलास के लिए एक अद्भुत घटना है। दर-असल हम बोलने वालों को बोलना आचार्य पाणिनि ने सिखाया है, आचार्य वाचस्पति मिश्र, जयंत भट्टाचार्य, पंतजलि, सम्राट् हर्षवर्धन के मित्र बाणभट्ट की भाँति यह भी वात्स्यायन-गोत्रीय ब्राह्मण थे, चणक-पुत्र चाणक्य के विषय में भी ऐसा ही कहा जाता है, महर्षि पाणिनि के अनेक नाम थे, कहा जाता है कि यह जड़-बुद्धि थे, इनकी माता का नाम दाक्षी था और यह गान्धार के निवासी थे, अपने गुरु आचार्य वर्ष की प्रेरणा से इन्होंने भगवान् शिव की तपस्या की और वरदान में माहेश्वर सूत्र पाया जिनके आधार पर पाणिनि ने संसार को चकित कर देने वाली अष्टाध्यायी और धातु-पाठ में विनिवद्ध, न भूतो न भविष्यति, जैसा व्याकरण दिया। इन सूत्रों में विश्व का किसी भी ध्वनि को बोधगम्य कराने का सामर्थ्य है, वैदिक भाषा के इस संस्कार के आधार पर पाणिनि के समय से ही प्रवहमान वैदिक भाषा लोक-संस्कार-संयुत अर्थात् संस्कृत भाषा बन गयी और इसी समय से पाणिनि-पूर्व भाषा को वैदिक संस्कृत और पाणिनि-परवर्ती भाषा को लौकिक संस्कृत कहा जाने लगा। इस प्रकार आदि से अन्त तक हमारी भाषा देव-वाणी है।

लौकिक संस्कृत का पहला महाकाव्य रामायण है, वाल्मीकि के बाद अगर पहले के साहित्य को अलग भी रखें तो भी संस्कृत भाषा में इतना प्रभूत साहित्य रचा गया है, कि जिसकी माप या गणना सम्भव नहीं है। एक लम्बे समय तक असभ्य आक्रमणकारियों द्वारा हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयों में इसी भाषा का साहित्य जलाया जाता रहा है, फिर भी विश्व की चार-छः समृद्ध भाषाओं का साहित्य एक ओर इकट्ठी रख कर तुलना की जाय तो भी संस्कृत-वाङ्मय उससे कहीं अधिक होगा। सर विलियम जोन्स ने कहा है कि संस्कृत के एक लाख टाइटिल्स तो मैंने अकेले देखे हैं। लोक से लेकर परलोक तक जीवन और जगत् का कोई ऐसा विषय ही दिखायी नहीं देता जिस पर संस्कृत में लिखा न गया हो।

कठोर अनुशासन सभी को अपनी परिधि में लाने में असफल रहता है। साधारण जनता भाषा-शास्त्र के कठोर नियमों का पालन नहीं कर पाती और उसका भाषा-सम्बन्धी सुविधा-मार्ग, सुविधाजनक प्रयोगों से विहीन इसीलिए कभी नहीं होता। संस्कृत भाषा, विद्वानों और पण्डितों की भाषा हो गयी, विद्वानों और पण्डितों ने जनसामान्य की भाषा को प्राकृत नाम दे दिया। प्रकृति का अर्थ स्वभाव और जनता दोनों हो सकता है। अतः प्राकृत भाषाएँ भी विकसित हो उठीं। पालिभाषा एक मुख्य प्राकृत भाषा है, इसमें बौद्ध रचनायें हैं पर प्राकृत का अधिक साहित्य जैनियों का है। जो बहुत कम प्रकाशित है पर बड़े-बड़े जैन-मंदिरों में हस्तलिखित यह साहित्य सुरक्षित है। प्रायः राजाओं एवम् व्रतोपवास की कथायें हैं, अधिक समृद्धि-सम्पन्न होने पर प्राकृतों का भी साहित्य महत्वपूर्ण हो गया। प्राकृतों के भी पण्डित और विद्वान् होने लगे, संस्कृत की भाँति प्राकृत के भी अच्छे-अच्छे व्याकरण बनने लगे और परिनिष्ठित प्राकृत भाषा को अपनी बराबरी से दूर रखने के लिए प्राकृत के पण्डित आचार्यों ने जनता की प्राकृत को अपभ्रंश नाम दे दिया, कई इसे अवहट्ट भी कहते हैं। अपभ्रंश का अर्थ बुरी तरह नीचे गिरा हुआ होता है। अब अपभ्रंश की स्वतंत्र धारा चलती रही और एक समय ऐसा आया जब ईसा की छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मुख्य रूप से कश्मीर से लेकर आन्ध्र, गुजरात तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक अपभ्रंश-भाषा और साहित्य की अभूतपूर्व समृद्धि हुयी, अपभ्रंशों की भी संख्या अनंत हुयी। हमारे देश की आधुनिक भारतीय भाषाएँ इस प्रकार अपभ्रंशों की ही सन्तानें हैं। और तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की सन्तानें हैं।

समाज को विखण्डित करने वाले तत्वों ने राज्यों और क्षेत्रों के आधार पर इन्हें संकुचित नाम देकर समाज का अधिक हित नहीं किया है क्योंकि मूलतः ये सभी भाषाएँ अपने में रूप से अभी दूर नहीं हुयी हैं। गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के शैली-नाम तो हो सकते हैं पर इन्हें मूलतः एक ही भाषा नाम दिया जाना चाहिए, हम चाहें तो इन्हें गुजराती हिन्दी, बंगाली हिन्दी आदि कह सकते हैं, ये सभी हिन्दी ही हैं, किंचित् उच्चारण-भेद और थोड़े से देशज शब्द किसी भी भाषा को अलग भाषा का दर्जा नहीं देते। राज्यों की भाषाओं को भी आर्य और अनार्य भाषाओं के रूप में बाँटा गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि तथाकथित अनार्य तमिल, तेलुगु, कन्नड़, और मलयालम भाषाओं में भी दैनंदिन व्यवहार में जितने संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अपने-अपने शुद्ध रूपों में होता है उतना अन्य भाषाओं में नहीं, जिस दिन देश की एक भाषा हिन्दी और एक लिपि देवनागरी दृढ़तापूर्वक लागू कर दी जावेगी उस दिन यहाँ भाषा की कोई समस्या नहीं होगी। कश्मीरी, सिन्धी, उर्दू जैसी भाषाएँ अनिवार्यतः देवनागरी लिपि में लिखी जानी चाहिए और अँग्रेजी भी। हिन्दी तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं भविष्य के लिए प्रस्फुटनशील व्रज, अवधी, मैथिली, मागधी, भोजपुरी, राजस्थानी जैसी बोलियों और उपभाषाओं से जोड़ने वाली भाषा है, हिन्दी का

स्वरूप जानने के लिए हमें संस्कृत के साथ प्राकृत और अपभ्रंश का भी अध्ययन करना चाहिए, अपभ्रंश एक ठोस भाषा-शैली है, प्राकृतों और अपभ्रंशों ने आये दिन अपनी लिपियाँ नहीं बदलीं, ये भी हमारी अक्षुण्ण भाषा-परम्परा का ही प्रमाण है।

हमने यह भूमिका अपभ्रंश-काव्य-साहित्य के संदर्शन-हेतु किये गये एक अनुसंधान-कार्य की पीठिका के रूप में प्रस्तुत की है क्योंकि आज की भाषा का रूप उस भाषा से बहुत बाद का है जिसे हम अपभ्रंश कहते हैं इसलिए अपभ्रंश के परिचय के लिए यह संदर्भ-स्थापना अपरिहार्य है, तासी, करीमुद्दीन, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन एवं मिश्र-बंधुओं ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास लिखे हैं, परन्तु हिन्दी-साहित्य का वास्तविक इतिहास आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल-लिखित है, किन्तु उसमें कमी यह है कि वह केवल मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का इतिहास है। पण्डित जी केवल भक्तिकाल और रीतिकाल के साथ ही न्याय कर सकने की ऐतिहासिक परिस्थिति में हैं, कारण यह है कि हिन्दी-साहित्य की आदि-कालीन सामग्री तब तक उपलब्ध नहीं थी और आधुनिक काल का स्वरूप स्थिर नहीं हो सका था। आधुनिक काल तो अब भी सम्यक् विवेचित नहीं है लेकिन आदिकाल जिसे अपभ्रंश-काल भी कहा जा सकता है, अब उसकी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है और उसकी विवेचना भी की जा चुकी है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह कार्य शुरू हुआ और आगे तक चलता रहा है, नाथूराम प्रेमी, डॉ० परशुराम-लक्ष्मण वैद्य, डॉ० रामकुमार वर्मा, पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांस्कृत्यायन और आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश-साहित्य को लेकर आनुसंधानिक और पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। फल यह हुआ कि जैसा इसे नाम मिला, हिन्दी-साहित्य की भूमिका एवं डॉ० रामकुमार वर्मा के हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लेखन से पूर्व तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य की भरपूर उपेक्षा भी हो गयी।

सन् 1923 में नाथूराम प्रेमी का अपभ्रंश पर महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ और इसी समय के लगभग हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका के रूप में शुक्ल जी का इतिहास प्रकाशित हुआ। काफी समय तक प्रेमी जी का उक्त-विषयक उपोद्घातात्मक निबन्ध कारगर सिद्ध नहीं हुआ पर आगे चलकर इसकी ऐतिहासिक उपयोगिता प्रमाणित हुयी। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति ही वेद से लेकर आज तक की अपनी भाषा और साहित्य के लिए भी हम विदेशी प्रमाण-पत्रों को ही प्रमाण मानते चले आ रहे हैं, विदेशियों में कम हुये पर जो अच्छे विद्वान हुये उन्होंने हमारी वास्तविकता का मूल्यांकन किया और जो विद्याखलु हुये उन्होंने या तो हमें उपहसित किया या अर्थ का अनर्थ करते हुये हमारा अवमूल्यन किया, इसमें ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, और फ्रांस के विद्वान प्रमुख हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही पहले-पहल जर्मनी के पिशेल और याकोबी जैसे श्रेष्ठ विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य का प्रथम अध्ययन आरम्भ किया। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी तो पिशेल से इतने प्रसन्न थे कि वे उन्हें पाणिनि-पूर्व हुये महान् वैयाकरण आपिशलि का अंशावतार कहते थे। हिन्दी-अपभ्रंश अध्येताओं के अनेक नाम पीछे आ चुके हैं इसी क्रम में डॉ० नामवर सिंह और डॉ० हरिवंश कोछड़ के नाम भी उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश के अध्ययन की इसी परम्परा से प्रेरित होकर डॉ० राजनारायण पाण्डेय ने अपभ्रंश का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया। कानपुर में अपनी आरम्भिक और विश्वविद्यालयी शिक्षा-दीक्षा से दीक्षित होकर पाण्डेय जी भारत-सरकार की गृह-मंत्रालयीय योजना के अन्तर्गत सरकारी अधिकारियों को शिक्षा देने के लिये प्रोफेसर के रूप में नियुक्त हुए। इस माध्यम से देश के विभिन्न राज्यों, राजधानियों और शिक्षा-अधिकारियों का पश्चिम जा पाना सम्भव हुआ। विदेशी भाषाओं के अतिरिक्त राज्यों की अनेकानेक क्षेत्रीय भाषाओं और मातृभाषाओं से ऐसा परिचय हो गया जैसे वे मानों उनकी अपनी मातृभाषायें हों। उन्होंने अनेक भाषाओं के साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया, वे उन क्षेत्रों में भी रहे जहाँ कि भाषा कभी अपभ्रंश ही रही होगी, उन्हें इसमें रुचि उत्पन्न हुयी। इसी बीच सम्भवतः बड़ौदा में पण्डित जी की भेंट प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० कुँवरचन्द्र प्रकाश सिंह से हुई। ठाकुर साहब ने पाण्डेय जी की विद्या-अभिरुचि देखकर और अपभ्रंश के लिए कोई काम हो इस भावना से प्रेरित होकर शोध-कार्य के लिए अपभ्रंश भाषा और साहित्य सुझाया, ठाकुर चन्द्र प्रकाश सिंह और पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा की आशी-राशि और दिशा-निर्देशन से पाण्डेय जी आगरा-विश्वविद्यालय के डॉ० राजनारायण पाण्डेय हो गये। पण्डा शब्द का शब्दकोश अर्थ तीक्ष्ण मेध है, जैसे गंगा से गांगेय बनता है वैसे ही पण्डा से पाण्डेय शब्द बनता है। पाण्डेय जी ने प्रतिभा और विद्वत्ता से अपने नाम के पाण्डेय विशेषण को सार्थक बनया है। शोध-ग्रन्थ की ऐसी-जैसी अश्रवणीयसी भर्त्सनाऽलोचनायें सुनने में न आयें जैसी कि अब सुनने में आती हैं। पण्डित जी का यह शोध-ग्रन्थ अपभ्रंश के महान् कवि पुष्पदन्त को केन्द्र में रखकर लिखा गया जो अपभ्रंश भाषा और साहित्य का एक प्रामाणिक अध्ययन है। कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा और डॉ० नगेन्द्र ने इसे एक मानक शोध-कार्य बताया है, पाण्डेय जी के इस अध्ययन का आरम्भ सन् 1957 में हुआ था, ग्रन्थ-रूप में इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन



सन् 1972-73 में जयपुर से हुआ। अब दो हजार नौ में इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण 'वाङ्मय-विवेक' नाम से प्रकाशित हुआ है।

लगभग दस-ग्यारह अध्यायों में विभाजित इस ग्रन्थ में पुष्पदन्त-साहित्य आदिकालीन हिन्दी-भाषा या अपभ्रंश के अन्यान्य महत्त्वपूर्ण कवियों के सम्बन्ध में जानकारी के साथ ही जैन-मत की प्रभूत अध्ययन-सामग्री पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय की सामाजिक, साहित्यिक, संस्कृतमूलक, राजनीतिक आदि स्थितियों का सम्यक् बोध भी प्राप्त होता है। जैसे अपभ्रंश के तीन कवि अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं :- स्वयंभू, पुष्पदन्त और धनपाल, वैसे ही इस काल के तीन ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं:- पउमचरित, महापुराण और भविसयत्त-कहा। पाण्डेय जी ने दशवीं शताब्दी के कवि पुष्पदन्त का आख्यान इस कृति में किया है, पुष्पदन्त के जन्मस्थान की निश्चित जानकारी नहीं है, इतना अवश्य है कि वे सर्वथा निर्धन और प्रतिभावान् विद्वान् थे, कवि पुष्पदन्त अपभ्रंश-भूमि के ही किसी भाग के वासी रहे होंगे, वह काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम केशव भट्ट और माता का नाम मुग्धदेवी था। जहाँ रहकर इन्होंने अपने अधिकांश साहित्य की रचना की उसका नाम मान्यखेट मिलता है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं महापुराण, णयकुमार-चरित और जसहर-चरित, अंतिम दो छोटे और इनकी कीर्तिश्री का मुख्याधर हैं महापुराण। महापुराण, पुराण और उत्तर नामक दो भागों में बाँटा गया है, इस समय का सम्पूर्ण काव्य प्रायः प्रबन्धों, सन्धियों एवं कड़वक-शैली में लिखित है, ऐसा ही साहित्य पुष्पदन्त का भी है, जैसे हिन्दी में ठाकुर नाम के अनेक कवि हुए हैं, अपभ्रंश में पुष्पदन्त नाम के भी अनेक कवि मिलते हैं। पाण्डेय जी ने अपने अध्ययन में तीन पुष्पदन्तों का उल्लेख करते हुये उक्त तीन ग्रन्थों के रचयिता को ही कवि पुष्पदन्त के रूप में प्रमाणित किया है, जैसे मिथिला के विद्यापति ठाकुर ने अपने पदों में बार-बार राजा शिवसिंह और लखिमा देई का उल्लेख किया है उसी प्रकार महाकवि पुष्पदन्त ने अपनी सन्धियों में अपने आश्रयदाता भरत का और अपना अनवरत् उल्लेख किया है। कवि पुष्पदन्त सर्वत्र इतने स्वभिमानी दिखायी देते हैं कि 'माणभंगुवर मरणु न जीविउ' उनके काव्य का बीज-मंत्र सा प्रतीत होता है, अपने अंतिम समय में पुष्पदन्त जिन संन्यासी हो-कर दिवंगत हुए थे, पाण्डेय जी ने अपने अध्ययन में सरहपा के बजाय चतुर्मुख को अपभ्रंश का पहला कवि कहा है, अब अपभ्रंश विद्याव्यसनियों की भाषा है, हमारी व्यवहार-भाषा नहीं, इसमें प्रभूततः जैन और बौद्ध साहित्य लिखा गया है जिसमें बौद्धों की तुलना में जैन-साहित्य अधिक व्यवस्थित है। दोहा-कोष, चरिया पद तथा कतिपयान्य काव्य प्रकाशित भी हुये हैं।

पुष्पदन्त के माध्यम से अपभ्रंश के अध्ययन का जितना हिस्सा पाण्डेय जी ने चुना है, उसका मूल्यांकन इतनी गम्भीर स्पष्टता के साथ किया गया है कि अध्येता को इससे यथेष्ट प्राप्ति होती है। निष्पक्षपूर्वक विचार किया जाये ले आज की अनेक भारतीय भाषाएँ, मुख्य रूप से हिन्दी-भाषा परिष्कार एवं साहित्य-सर्जन में प्राकृतों और अपभ्रंशों से बहुत आगे हो गयी है। भाषाओं के स्थिर रूप पर व्याकरण अपना आधिपत्य जमा लेता है, परन्तु बहते नीर के समान भाषा अपने पन्थ पर बढ़ती चली जाती है और नयी भाषाओं का जन्म होता है। भाषा विज्ञान इसे भाषा-विकास कहता है, वह भाषा-सम्प्रवाह के सामने हेमचन्द्रशब्दानुशासन' जैसे ग्रन्थों की चिन्ता नहीं करता है। भाषाएँ अपनी पूर्वज भाषाओं की गलतियाँ होती हैं जैसे आज तक की भाषाएँ संस्कृत की गलतियाँ हैं, ये त्रुटित भाषा-रूप ही स्वतंत्र, शुद्ध भाषा का रूप ग्रहण करते रहते हैं, वैसे ही जैसे कि दुनिया के एक दो मत ये मानते हैं कि आदम और ईव ने निषिद्ध वृक्ष का फल चख कर मनुष्य जीवन के दोषपूर्ण चलते रहने की परम्परा डाली। पाण्डेय जी का सर्जन के साथ साहित्य के अध्ययन में भी इसी प्रकार का आनंद है जैसा कि रचनाकार को स्वयम् के रचित संसार से प्राप्त होता है। एक अच्छी अँग्रेजी औपन्यासिक कृति का अनुवाद अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। जिसमें उनकी लेखनी गाँधी जी पर चली है। हाल ही में उनकी एक प्रामाणिक इतिहास-पुस्तक भी प्रकाशित हुयी है जिसकी भूमिका इन पंक्तियों के लेखक ने लिखी है, उनके साहित्य-प्रकल्पों में अनेक ऐसे ही ऐतिहासिक सन्दर्भ सुरक्षित हैं। समय-समय पर अच्छे और विचारपूर्ण पत्र-लेखन का कार्य भी पाण्डेयजी करते हैं, जीवन के नवें दशक में चल रहे डॉ० राजनारायण पाण्डेय का समग्र साहित्यिक अवदान उनके ज्ञान और संज्ञान का ही परिचायक है। ज्ञान वह नहीं है जो हम नहीं जानते वस्तुतः ज्ञान वही है जो हम जानते हैं। किसी कृति और कृतिकार का अध्ययन, मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए, पाण्डेयजी के इस ग्रन्थ को लेकर हमने ऊपर जो लिखा है उससे हमें दो लाभ हुये हैं, एक तो ये कि साहित्याधिदैवत की आरती का हमें एक और अवसर मिला और दूसरा यह कि अत्यन्त स्वाभाविक शैली में हमारा ज्ञान-संवर्धन भी हुआ। इन आपभ्रंशिक एवम् अन्यान्य संदर्भों ने आधुनिक पाण्डेय जी के कृतित्व को और उन्हें विशिष्ट यशोभागी बनाया है। व्यतीत भाषारूपों और अतीत साहित्य-स्वरूपों का वर्तमानिकता से संयोजन कर इस ग्रन्थ में साहित्य-जगत् में सुरक्षित रहने के लिए यह विशिष्ट अवदान प्रस्तुत किया गया है। तत्पूर्वपरिचित, साहित्य और कानपुर के

# शोध संचयन

SHODH SANCHAYAN

ISSN 2249-9180 (Online)  
ISSN 0975-1254 (Print)  
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of  
Humanities & Social  
Sciences

Half Yearly

---

Vol-3 Issue-1  
15 Jan-2012

---

वाङ्मय-विवेक की  
भूमिका

सेवकवात्स्यायन

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी  
विभाग, क्राइस्ट चर्च  
कॉलेज, कानपुर, एफू-13,  
किदवई-नगर, कानपुर-11

[www.shodh.net](http://www.shodh.net)

---

Page No. 5

रत्न डॉ० राजनारायण पाण्डेय उस वर्ष अनायास मेरे आवास पर पधारे जैसे कविकुलगुरु की उक्ति कि न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् उलटी हो रही हो, अनुभव हुआ कि कभी रत्न भी सामान्य की खोज में बाहर निकल पड़ते हैं।